ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2015; 1(3): 174-177
www.allresearchjournal.com
Received: 08-01-2015
Accepted: 18-02-2015

डॉ. कविता राजन
एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

Corresponding Author:
डॉ. कविता राजन
एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

समकालीन विमर्शों में सामाजिक अस्मिता के सवालों का स्वरूप

डॉ. कविता राजन

प्रस्तावना

आज के इस उत्तर-आधुनिक समाज में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया तेजी के साथ बढ़ी है। जिसके परिणामस्वरूप पूँजी का अन्तर्प्रवाह भी बढ़ा है और वैश्वीकरण, निजीकरण, बाजारीकरण, सूचना एवं संचार क्रांति को बल मिला है। जातीय, वर्गीय, सामाजिक और राष्ट्रीयता की पहचान को धता बताते हुए भूमंडलीकरण के इस दौर में अन्तर्राष्ट्रीय पहचान की हिमायत की जा रही है। परन्तु समकालीन सामाजिक विमर्शों ने भूमंडलीकरण के विरूद्ध अस्मितावादी आन्दोलन चलाए हैं। जो 'स्व' की पहचान तथा अधिकार के लिए संघर्षरत है। इन विमर्शों ने अपने संघर्ष का हथियार ज्ञान की सत्ता को बनाया है, जिसके माध्यम से ब्राह्मणवाद की पदसोपानिक व्यवस्था का विरोध कर सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में अपनी पहचान को तलाशा है। इन समकालीन विमर्शों में दलित विमर्श, स्त्रीविमर्श, आदिवासी विमर्श प्रमुख है।

पिछले कुछ दशकों में साहित्य को प्रभावित करने वाले विमर्शों में दलित विमर्श प्रमुख है। दलित विमर्श ने जहाँ एक तरफ इतिहास में अपनी पहचान को तलाशते हुए इतिहास का नया पाठ प्रस्तुत कर मार्क्सवाद का विरोध किया है, वहीं दूसरी तरफ ब्राह्मणवाद की जाति व्यवस्था को नकारते हुए मानवतावाद की व्यापक भावभूमि पर अस्तित्ववाद का विरोध किया। दलित विमर्श का आधार समानता, स्वतंत्रता, सामाजिक सहभागिता, व्यक्ति की गरिमा, आदि नैतिक मूल्यों पर आधारित है। इसीलिए वे हर उस व्यवस्था का विरोध करते हैं, जो व्यक्ति की गरिमा का हनन कर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जन्म के आधार पर भेद करता है। स्वतन्त्रता के पूर्व ज्योतिबा फूले और बाबा भीमराव अंबेडकर ने दलितों के उत्थान के लिए कई आन्दोलन चलाए। इस संदर्भ में स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं और दलित विचारकों में अन्तर्विरोध पाया जाता है। जिसे गांधी और अंबेडकर के मध्य हुए वैचारिक मतभेद के रूप में देखा जा सकता है। आन्दोलनों के फलस्वरूप संविधान में दलितों के लिए विशेष प्रावधान किए गए परन्तु व्यवहारिक धरातल पर उनका पालन लगभग न के बराबर ही हुआ जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान का प्रसार हुआ, दलितों में भी चेतना का विकास हुआ और वे अपने शोषण की अन्याय मूलक व्यवस्था को समझ सके और उसके विरोध में धीरे-धीरे आवाज बुलंद करने लगे।

दलितों को ब्राह्मणवादी व्यवस्था में सभी वर्णों की सेवा करने का दायित्व प्रदान किया था। साथ ही उन्हें शिक्षा या ज्ञान अर्जन के लिए कुपात्र समझा जाता था। इसलिए दलितों ने सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्ति के लिए संघर्ष किया और इसे ही अपनी मुक्ति का अस्त्र बनाया। जिसे स्पष्ट करते हुए डॉ. देवेन्द्र चौबे लिखते हैं- "कहना न होगा कि ज्ञान के माध्यम से नए संघर्ष की शुरूआत करने वाला यह साहित्य (दलित) लेखन की दुनिया में एक भिन्न प्रकार के चरित्र को स्थापित करेगा, जो पारंपरिक साहित्य से बिल्कुल अलग होगा।"[1] अतः उत्पीड़न के विरूद्ध विद्रोह की चेतना का साहित्य सृजन 'दलित-साहित्य' है तथा आत्मसम्मान से जीने की प्रबल इच्छा-शक्ति के साथ एकजुट होकर अपनी अस्मिता की पहचान के लिए संघर्ष की चेतना जगाना दलित चेतना हैं।

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी में इस विषय पर गंभीर चिंतन हुआ कि दलितों के द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। इन विद्वानों में कंवल भारती, धर्मवीर, मुद्राराक्षस आदि प्रमुख हैं। इन लोगों का यह मानना है कि यह ब्राह्मणवादी तर्क ही है वस्तुतः ऐसा विचार प्रकट कर दलित विमर्श के स्वरूप को उपर्युक्त विद्वान अनजाने में ही संकुचित करने का कार्य कर रहे है। हालांकि यह व्यापक बहस का मुद्दा है।

महाराष्ट्र में सातवें दशक में उभरा 'दलित पैंथर' संगठन अमेरिका के 'ब्लैक पैंथर' आन्दोलन से प्रेरित और प्रभावित था। जिस तरह ब्लैक पैंथर रैडिकल थे, उसी प्रकार से दलित पैंथर आन्दोलन में भी यह रैडिकल तत्व ही महत्वपूर्ण था। परन्तु अब सवाल यह उठता है कि क्या दलित विमर्श, स्त्री विमर्श की तरह एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप में विकसित हो सका है। तो उत्तर मिलता है आंशिक रूप में। दलितों का कोई ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन नहीं बन पाया है, जबकि स्त्रियों के लिए 'यू.एन.वूमैन' का गठन हो चुका है। हालांकि की दलित स्त्रियों जो दोहरा दंश झेल रही है- एक तो दलित होने का और दूसरा स्त्री होने का उनको इस संगठन का सहयोग अवश्य प्राप्त हो सकेगा। दलित विमर्श का अन्तर्राष्ट्रीयकरण बिल्कुल न हुआ हो ऐसा भी नहीं है। भूमंडलीकरण के इस दौर में दलित अस्मिता के प्रश्न का अन्तर्राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। विवेक कुमार लिखते हैं- "भूमंडलीकरण के बदले हुए परिवेश में दलितों ने भी अपने लिए कुछ सकारात्मक ढूँढ़ लिया है। आज इन्टरनेट तथा सूचना क्रांति के माध्यम से दलितों ने प्रवासी भारतीयों को ढूंढ निकाला है। दक्षिण एशिया, दक्षिण अफ्रीका, वेस्टइंडीज, यूरोप, अमेरिका आदि अनेक उपमहाद्वीपों में बसे अप्रवासी भारतीय दलित जिन्हें हम 'दलित डामाचोरा' के नाम से भी पुकार सकते हैं, आज इन्हीं माध्यमों से अपनों को जुड़ा पाते हैं।"[2]

परम्परा और इतिहास का निर्माण किसी भी अस्मिता के लिए महत्वपूर्ण तत्व है। इसीलिए दलित विद्वानों (चिंतकों) ने दलितों की परम्परा और इतिहास को अस्मिता के साथ जोड़कर देखा है। दलित साहित्य में अब तक सबसे महत्वपूर्ण साहित्यिक सृजनात्मकता आत्मकथाओं में नजर आती है जरूरत इस बात की भी है कि साहित्य की अन्य विधाओं में भी श्रेष्ठ रचना की जाए। दलित चिंतकों ने अपनी परम्परा को बनाए रखने के लिए एक नए सौंदर्यशास्त्र की मांग की। जिस पर मराठी में दलित साहित्य को लक्ष्य करके शरण कुमार लिम्बाले ने सौन्दर्यशास्त्र पर पुस्तक लिखी और हिन्दी में ओमप्रकाश वाल्मिकी ने भी 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र'[3] नामक पुस्तक लिखी जो एक सराहनीय प्रयास है। इसी प्रकार दलित विमर्श की एक परम्परा विकसित की जा सकेगी और दलित विमर्श को आगे बढ़ाया जा सकेगा।

दलित विमर्श का एक पहलू राजनीतिक ताकत के रूप में दलितों की स्वतंत्रता के रूप में उभर रहा है। राजनीति में इसे काशीराम और मायावती के माध्यम से देखा जा सकता है। राजनीतिक पहलू के कारण ही इसका आर्थिक पहलू भी मजबूत हुआ है और यह एक सशक्त विमर्श के रूप सामने आया है, हालांकि आरम्भिक दिनों में हिन्दी के अनेक आलोचकों ने दलित साहित्य के प्रति अवहेलना की मुद्रा अपनाई थी, परन्तु बाद में सीमित स्वीकृति मिली और अब यह हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान बना चुका है।

समकालीन अस्मितावादी विमर्शों की विचारधारा और मुद्दे अलग-अलग होने के बावजूद सभी आंदोलन अस्मिता का दावा जरूर करते हैं। हालांकि इस पहचान का स्वरूप सभी के लिए एक जैसा और सुपरिभाषित नहीं है। जब कोई समुदाय अपने अस्मिता और अपनी भूमिका की तलाशने की कोशिश करता है तो उसके सामने ये सवाल सहज ही आ जाते है कि 'हम कौन है?' और दूसरे समुदायों के मुकाबले हमारी समाज में क्या हैसियत है? या हमारे बीच क्या सह संबंध है? इन सवालों से टकराकर ही व्यक्ति/समुदाय अपनी अस्मिता की प्रक्रिया की शुरूआत करता है। स्त्रियाँ अपने अस्मिता के लिए जिन सवालों से टकराती हैं और परस्पर वाद-विवाद करती हैं उसे ही स्त्री विमर्श के रूप में देखा जाता है।

स्त्री विमर्श प्रमुख रूप से पितृसत्तात्मक समाज के विरूद्ध आन्दोलन के रूप में शुरू हुआ। मुख्य मुद्दा था स्त्री को वे सभी अधिकार प्राप्त होने चाहिए जो अब तक पुरुष सत्ता के कारण नहीं प्राप्त हो सके। पश्चिम में स्त्री विमर्श लेखन का प्रारम्भ 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही शुरू हो गया था। परन्तु हिन्दी में स्त्री विमर्श आन्दोलन बहुत बाद में शुरू हुआ। किन्तु स्त्री-मुक्ति आंदोलन और स्त्रीवादी चेतना के फलस्वरूप नारी जीवन में एक नयी उर्जा दिखाई पड़ी, और एक नया उन्मेष आया। अब वे अपने अधिकारों के लिए पुरुष के समानान्तर अपनी दुनिया देखने लगीं। पुरुष के वर्चस्व को चुनौती देती हुई हिन्दी साहित्य में कई स्त्री-चिंतक देखी जा सकती है। जैसे- महाश्वेता देवी, कृष्णा सोबती, चित्रा मुद्गल, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, रमणिका गुप्ता, अनामिका आदि। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि किसी भी अस्मितावादी विमर्श के लिए परम्परा और इतिहास का खास महत्व होता है इसलिए इन चिंतकों ने स्त्रियों के इतिहास और परम्परा को दिखलाने का प्रयास किया। ऐसा ही प्रयास सुमन राजे ने "हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास"[4] लिखकर किया।

कुछ स्त्री लेखिकाओं का मानना है कि सेक्स की स्वतंत्रता ही स्त्री की असली स्वतंत्रता है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि न केवल यौन वर्जनाओं को तोड़ने पर बल दिया जाए, अपितु उन सभी वर्जनाओं को तोड़ने की जरूरत है, जिसके कारण स्त्रियों पर शोषण, जुर्म, लैंगिक भेदभाव अपनाये जा रहे हैं। आज के बाजारीकरण के दौर में स्त्रियाँ 'कमोडिटी' की तरह इस्तेमाल की जा रही हैं। सौंदर्य प्रतियोगिताओं में स्त्री को एक बिकाऊ माल की तरह पेश किया जा रहा है। हालांकि बाजारीकरण से स्त्रियों की कई वर्जनाएं टूटी हैं, फिर भी बाजारीकरण के प्रति सचेत रहते हुए स्त्रियों को अपनी अस्मिता को बनाये रखना चाहिए। स्त्रियों को सभी प्रकार की मुक्ति के लिए संघर्ष करना चाहिए न कि केवल देह स्वतंत्रता के लिए। कुछ लेखिकाएँ हैं जो स्त्रियों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आत्मनिर्भरता की बात करती हैं जिसके परिणामस्वरूप वे स्वयं देह की स्वतंत्रता प्राप्त कर लेंगी। पार्थ चटर्जी स्त्रियों की स्वतंत्रविहीनता को रेखांकित करते हुए कहते हैं- "भारतीय स्त्री की दशा को पूरे देश की सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा में अंतनिर्हित दमनकारी प्रवृत्तियों और उनके स्वातंत्र्य विहीन स्वरूप के संकेत चिहन में रूपान्तरित कर दिया।"[5]

स्त्रियाँ हर उस संकेत चिहन का प्रतिरोध करती हैं, जो उनकी स्वातंत्र्य स्वरूप का निषेध करती हैं। पितृसत्तात्मक व्यवस्थाओं में स्त्रियों की स्थिति उसी प्रकार है, जिस प्रकार फूको ने ज्ञान और शक्ति का समीकरण प्रतिपादित किया है।

हाल के वर्षों में नारीवाद ने कई नई अवधारणाएं पेश की है, जिसके परिणामस्वरूप नारीवाद कई विचारधाराओं में बंटता गया है और अक्सर बिल्कुल अलग-अलग परिकल्पनाओं और पहलुओं को प्रतिबिंबित करता है। उदारवादी नारीवाद, मार्क्सवादी-समाजवादी नारीवाद और उग्र नारीवादी ये तीन उल्लेखनीय विचारधाराएं हैं। नारीवाद महिला उत्पीड़न के विभिन्न पहलुओं को समझने की दिशा में प्रयासरत एक गतिशील और समय के साथ परिवर्तित होने वाली विचारधारा है, जिसमें व्यक्तिगत, राजनीतिक और आर्थिक पहलू भी शामिल हैं। परन्तु इन सभी में जो बात समान है वह यह कि स्त्री-पंुरुष संबंधों में महिलाओ को भी स्वतंत्रता व समानता दी जानी चाहिए। परन्तु स्वतंत्रता व समानता का स्वरूप कैसा हो इसको लेकर मतभेद बना हुआ है। उसी प्रकार नारीवादी राजनीति में परस्पर भिन्नता पाई जाती है, क्योंकि वे बदलाव के लिए अलग-अलग रणनीतियों में विश्वास रखती हैं, क्योंकि महिला उत्पीड़न के कारणों के विषय में उनका दृष्टिकोण अलग-अलग है।

जहां तक बात सेक्स स्वतंत्रता की है, आज के दौर में यौनिकता पर बराबर चर्चा होती है और होमोसेक्सुअल, ट्रांसजेण्डर और बाईसेक्सुअल आदि को जहां कानूनी अधिकार प्राप्त हो रहें है, वहीं दूसरी तरफ उनको सामाजिक स्वीकृति भी धीरे-धीरे मिलने लगी है। इसलिए सेक्स स्वतंत्रता के मसले से बात आगे बढ़ाने की जरूरत है, और महिलाओं को प्रत्येक क्षेत्र में आत्मनिर्भर और सशक्त होने की जरूरत है। हालांकि महिलाओं के सशक्तीकरण के लिए तथा महिलाओं के साथ हो रहे लैंगिक भेदभाव को समाप्त करने के लिए हाल में ही यून.एन.वूमैन का गठन किया गया है। जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिलाआं से संबंधित मामलों पर निगरानी करेगा।

अस्मिता या पहचान 'अन्य' के बगैर नहीं बनती। परन्तु जब यह 'अन्य' अत्यधिक हावी हो जाता है तो बात अस्मिता के संकट की न होकर अस्तित्व के संकट की बन जाती है। ऐसे ही संकट के बोध से उपजा विमर्श है- आदिवासी विमर्श। आदिवासियों के सामने उन्मूलन की समस्या आ खड़ी हुई है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा उनके जल, जमीन और जंगल पर कब्जा कर लिया जा रहा है। जिस कारण वे उन्मूलन की कगार पर पहुंच चुके है। ये

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ सरकार के इशारों पर कार्य करती है और इन सरकारों को चुनने का कार्य बहुसंख्यक गैर आदिवासी समूह करता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ द्वारा विकास के नाम पर आदिवासियों की जमीन, खनिज सम्पदा, जंगल, जल का कब्जा कर लिया जाता है। इस प्रकार वे विस्थापित होने के लिए मजबूर हो जाते हैं। तथा ये उन्हीं कंपनियों में बतौर मजदूर या फिर देश के अन्य क्षेत्रों में मजदूरी करने के लिए विवश हो जाते हैं। झारखंड, उड़ीसा, आदि राज्यों में विकास की ऐसी ही विनाश लीला चल रही है। प्रभाकर तिर्की लिखते हैं- "यद्यपि शासक वर्गों ने झारखंड के विकास के पक्ष में बड़ी-बड़ी दलीलें देकर आम जनता को भ्रमित करने का प्रयास किया है, परन्तु विनाश की प्रक्रियाओं तथा उसके तुलनात्मक विश्लेषण से, विनाश की कहानी प्रमाणित होती है।"[6] विकास की हमारी सरकारी प्रक्रिया किसका परिणाम अन्नतः विस्थापन और कई स्तरों पर अन्ततः अविकास ही होता है।

हिन्दी में आदिवासी समस्याओं को केन्द्र में रखकर कई साहित्यकारों ने रचना कर्म किए हैं। इनमें से संजीव, रणेन्द्र, आदि प्रमुख है। आज जब भारत की जनसंख्या उतरोत्तर बढ़ रही है, वहीं इसके बरख्श आदिवासियों की जनसंख्या में भारी गिरावट देखी जा रही है। साथ ही सरकार ने आजादी के बाद से ही आदिवासी विकास कार्यक्रम की शुरूआत की। परन्तु यदि हम आंकड़ों पर ध्यान दे तो स्पष्ट पता चलता है कि आदिवासी विकास मद की प्रतिशत भागीदारी क्रमशः घटती चली गई जबकि उसे बढ़ाया जाना चाहिए था।

भूमंडलीकरण के इस दौर में पूंजी का विस्तार हुआ। जिससे अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों और अर्थनीतियों दोनों में परिवर्तन हुआ है और समझौते के तहत प्राकृतिक संसाधनों पर से आदिवासियों का मालिकाना हक समाप्त हो गया। वहीं दूसरी तरफ अंधाधुंध औद्योगिकीकरण के चलते आदिवासियों की जमीन छीन ली गयी और उनके सामने खाद्य-संकट उत्पन्न हो गया। इतना ही नहीं पेटेंट जैसे कानूनी अधिकार भी सक्षम आर्थिक शक्ति का गुलाम बनकर रह गया। इन सबसे आदिवासियों की संस्कृति एवं परम्परा भी नष्ट होती जा रही है। उनका ज्ञान भी मिटता जा रहा है। इस प्रकार से भूमंडलीकरण आदिवासियों के लिए हर तरह से नुकसानदेह है।

सरकार को विकास के नजरिये पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। दरअसल आदिवासियों के विकास के प्रतिमान दीर्घकालिक विकास की स्थापना में सक्षम हो। अतः सरकार को इनके विकास के मॉडल का अपनाना चाहिए। जिससे पर्यावरणीय समस्याएं भी न उत्पन्न हो, ओर साथ ही विकास हो और आदिवासी अस्मिता भी बनी रहे। आदिवासियों का प्रकृति के साथ जो तालमेल है, वह संतुलित संबंध पर आधारित है, जिससे प्राकृतिक आपदाआंे में कमी लाई जा सकती है। उत्तर-आधुनिक इस समाज में विकास के जो खतरनाक परिणाम आए उनसे हम फिर से प्रकृति के साथ तादात्मय बनाने को विवश है, क्योंकि प्राकृतिक संकट से सम्पूर्ण मानव जीवन ही अशेष हो जाएगा इसलिए इन पर विचार करना युक्ति पूर्ण है।

आदिवासी क्षेत्रों में एन.जी.ओ. की भूमिका महत्वपूर्ण है क्योंकि इन क्षेत्रों में विकास तभी संभव है, जब हम उस क्षेत्र की समस्त जानकारी रखते हो। इससे बिल्कुल भिन्न वालों को इस संस्कृति परम्परा, भिन्नता को जानने के लिए ग्रास लेबल पर काम करना पड़ेगा जो एक एन.जी.ओ. के द्वारा सही ढंग से कराया जा सकता है इसलिए आदिवासी क्षेत्रों में विकास के रूप में एन.जी.ओ. की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। लेकिन वर्तमान में आदिवासी समाज में काम कर रहे एन.जी.ओ. भी आदिवासी लोगों का शोषण ही कर रहे है, आदिवासी स्त्रियों का भी वे शोषण करते है। इसलिए ये सभी सवाल आज आदिवासी विमर्श के केन्द्र में हैं।

संदर्भ

1. पृ. 45, चौबे, देवेन्द्र: 'आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श' ओरियंट ब्लैकस्वान, दिल्ली, 2009
2. पृ. 322, कृष्ण, प्रणय: 'उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिन्दी साहित्य' लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
3. वाल्मीकि, ओमप्रकाश: दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2014
4. राजे, सुमन: हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2003
5. पृ. 249, कृष्ण, प्रणय: 'उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिन्दी साहित्य' लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
6. पृ. 41, संपा. गुप्ता, रमणिका: 'आदिवासी: विकास से विस्थापन तक' राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटिड, नई दिल्ली, 2008